

Van Sangyan



Tropical Forest Research Institute
(Indian Council of Forestry Research and Education)
PO RFRC, Mandla Road, Jabalpur – 482021

Visit us at: <http://tfri.icfre.gov.in> (or) <http://tfri.icfre.org>

Write to us at: vansangyan_tfri@icfre.org

Dr. D.N.Tiwari, IFS(Retd),
Former Member,
Planning Commission



Message

I am pleased to know that the Tropical Forest Research Institute (TFRI), Jabalpur is starting a **monthly e-magazine "Van Sangyan"** addressing the practicing foresters, tree growers and other stakeholders. Tropical forest is an important repository of biodiversity and home to several indigenous communities. The unique biodiversity, ethno-botany, flora and fauna of the Central Indian region has always been a source of attraction not only to the tourist but also the researchers and academicians. TFRI is a premier institute of Indian Council of Forestry Research and Education (ICFRE), addressing the research in field of forestry in Central India. The principal aim of Research is to bring out nature's hidden treasures for the benefit of mankind and this magazine would provide an ideal platform for sharing of knowledge by the scientific community and practicing foresters with the stakeholders. This magazine would also provide a scope for the stakeholders to pose their queries related to field forestry.

It is a matter of great happiness to know that this magazine is launched in electronic form, thus ensuring the wide reach and free accessibility. I congratulate the Institute and the team involved for coming up with this novel idea. I wish grand success for the venture. I hope that the magazine will be highly useful to the target audience.

A handwritten signature in blue ink, appearing to be 'D.N. Tewari', with a long horizontal stroke extending to the right.

Dr. D.N. Tewari,
Former Member,
Planning Commission

From the Editor's desk



Bamboos are some of the fastest-growing plants, used as building material, as food source, and as a versatile raw product. Bamboo is stronger than steel and hence the name “poor man’s timber”.

Agroforestry models using bamboos were discussed in the first issue of *Van Sangyan*. The present issue has an article on the utility of tissue culture for clonal propagation of bamboo.

Commercial cultivation of monopodial bamboos in areas having suitable climatic and edaphic conditions in India can boost up bamboo-based rural industrial economy. A section on the propagation and management techniques of monopodial bamboos is also included in this issue.

I hope that you would find all information in this issue relevant and useful.

Readers of *Van Sangyan* are welcome to write to us about their views and queries on various issues in the field of forestry, in English, Hindi, Marathi or Oriya, along with the writer’s name, designation and full postal address, including e-mail id and contact number.

Looking forward to meet you all through the forthcoming issues.

Dr. N. Roychoudhary

Chief Editor

Contents	Page
सागौन वन क्षेत्रों में प्राकृतिक प्रकोप से सूख रहे युवा वृक्षों का उपचारण कर पुर्नजीवित करना – डॉ. पी. बी. मेश्राम	1
ऊतक संवर्धन तकनीक द्वारा बॉस का उत्पादन – डॉ. योगेश्वर मिश्रा	4
मृदा परीक्षण की वानिकी में उपयोगिता – शिवकुमार कौरव, राम बहादुर मांझी, डॉ. ए.के. भौमिक एवं मनीष सपकाल	6
Invasive plants - Swaran Lata and Nidhi Mehta	10
महुआ : एकत्रीकरण एवं मूल्यवर्धन की सम्भावनाये – डॉ. विशाखा कुंभारे	15
ट्री ऑफ़ सैडनेस (दुःखी वृक्ष) – राजेश कुमार मिश्रा एवं नसीर मोहम्मद	18
Cultivation and management of monopodial bamboo in India - R. K. Taj	23
साल बोरर (<i>होप्लोसिराम्बिक्स स्पार्डनिकॉर्निस</i>) – आनन्द कुमार दास, नितिन कुलकर्णी एवं एन. रॉयचौधरी	27
Food from the forest: Edible Fruits - Sanjay Singh, Dr. P.K. Khatri and Chandrashekhar Dixit	29
Know your Biodiversity (<i>Lagerstroemia speciosa</i> & <i>Ratufa indica</i>) - Swaran lata	32

सागौन वन क्षेत्रों में प्राकृतिक प्रकोप से सूख रहे युवा वृक्षों का उपचारण कर पुनर्जीवित करना

MKW i h- ch- esJke

वन कीट प्रभाग/वन रोग प्रभाग, उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर

LFky i fjp;

वन कक्ष क्रमांक 1599 एवं पी.-1601 बोरगांव बीट, वन परिक्षेत्र कन्हान, वन मंडल दक्षिण छिन्दवाड़ा के अंतर्गत है। यह स्थल छिन्दवाड़ा नागपुर मार्ग पर सौसर से लगभग 10 किलो मीटर दूरी पर है। यह वन क्षेत्र उष्णकटिबंधीय पर्णपाती क्षेत्र है। इस क्षेत्र में पूर्व प्रबंध जैसे कॉपीस विथ रीजन्टेशन (सी.डब्ल्यू.आर.) प्रबंधन एवं वर्तमान प्रबंध जैसे सिलेक्शन कम इंप्रूवमेंट (एम.सी.आई.) प्रबंधन किया है। वर्ष 2006-07 में जुलाई-अगस्त माह में सागौन के कई युवा वृक्ष सूख कर मृत पाये गये। और कई वृक्ष सूखने की कगार पर थे। उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर में कार्यरत वैज्ञानिक डॉ० पी. बी. मेश्राम एवं डॉ. के. के. सोनी, द्वारा उक्त क्षेत्र का भ्रमण दिनांक 24.10.2007 कर विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की गई।

fj i kV/ dk l f{klr fooj .k

प्रेक्षण के दौरान इस कम्पार्टमेंट में दो श्रेणी के आधार पर लक्षण पाये गये। प्रथम श्रेणी में पूर्ण सूखे वृक्ष एवं दूसरी श्रेणी में अर्ध सूखे वृक्ष के साथ कुछ जीवित शाखाएं। इस क्षेत्र में यह पाया गया है कि 40 से 60 सें.मी. गोलाई में अधिक वृक्ष सूखे पाये गये। ये क्षेत्र जैविक कारक से ग्रसित है। जैसे- आग, चराई एवं कटाई आदि। काफी सागौन के वृक्ष में खास तौर पर जड़ों में सड़न के लक्षण पाये गये। इन क्षेत्र में वर्षा के बाद मृदा में नमी की कमी पायी गयी। इस क्षेत्र में जल संधारण की स्थिति कम पाई गयी। उपरी मृदा का स्तर भी कम पाया गया है जिससे जड़ों द्वारा वृक्षों को पोषक तत्व मिलने में कठिनाई उत्पन्न होती है। इन क्षेत्रों में वृक्षों की स्थिति बहुत अधिक खराब पायी गयी जिससे ऐसे वृक्षों को फल/बीज उत्पादन में रुकावट आती है।

I kxk&u ds l ¶ks o{k



इस क्षेत्र में सागौन का पुनरूत्पादन भी नहीं पाया गया है। यह पाया गया है कि यह क्षेत्र कॉपिस मूल के सागौन वन हैं, जो 3-4 रोटेशन से गुजर चुके हैं। इस वन में प्राकृतिक प्रतिरोधक क्षमता कम है, और रूट सिस्टम कमजोर है। इस क्षेत्र का सागौन साइट क्वालिटी IV के अंतर्गत आता है। सागौन के साथ-साथ धावा, पलास, तेंदू, बेल, साजा, लेंडिया, अमलतास, रोहण, रिउंजा आदि मुख्य प्रजातियां भी इस क्षेत्र में पाई जाती हैं। छोटे पौधे एवं झाड़ियां भी इन वन क्षेत्र से नष्ट होने की कगार पर हैं। इस क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति उतार-चढ़ाव जैसी है और मृदा रेतीली-लोमी, कठोर एवं बोल्टर-मुरमी के साथ उतार पर कठोर पैन जैसा है। अम्लीय गूण पी.एच. 6.6 है। दोनों कम्पार्टमेंट का संपूर्ण क्षेत्र 275.625 एवं 279.450 हेक्टेयर है। भौगोलिक संरचना डेक्कन ट्रैप जैसी है।

इस क्षेत्र में पहाड़ी ढलानों पर मृदा अपरदन (साइल एरोजन) से भूमि की उर्वरता कम हो चुकी है। इस क्षेत्र में लगातार डिफोलिएटर, हिल्बीया प्यूरा एवं स्केलेटोनाइजर, यूटेक्टोना मैकीरेलीस इन कीटों का भी अधिक प्रकोप पाया गया है। जिसकी प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है।

y{k.k

सागौन के सूखे वृक्ष सभी गोलाई (21 से 150 से.मी.) के अंतर्गत पाये गये। इसमें 45 से 60 से. मी. गोलाई में सबसे ज्यादा सूखे पाये गये। सागौन के वृक्ष में उपर से नीचे तक सूखना प्रारंभ हुआ था इसके साथ उपर की ओर एवं आजू-बाजू की शाखाएं भी सूखी पाई गई कुछ वृक्षों में आधे सूखे वृक्ष पाये गये। ऐसे सूखे वृक्षों में दीमक का प्रकोप भी पाया गया। ऐसे वृक्षों में रूटरॉट फंफूद भी पाया गया।

I kxk&u ds I ¶ks o{k i j nhed dk i xkks



I ¶ks dk dkj .k

कम्पार्टमेंट क्रमांक 1599 एवं 1601 बोरगांव बीट में यह पाया गया है कि सागौन के वृक्षों का सूखना प्रमुख तौर पर कॉपिस के 3-4 रोटेशन से एवं जैविक कारक के साथ आग लगने से इन वृक्षों की ताकत कम हुई है।

इस वजह से सागौन के वृक्षों में कमजोर स्थिति पाई गई है। वृक्षों की जड़-तंत्र में कमजोरी पाई गयी है। कभी-कभी स्कार एवं सूखे रॉट भी पाये गये हैं। सागौन वृक्षों में जड़-तंत्र उथला हुआ भी पाया गया। सूखे वृक्षों का प्रतिशत सबसे ज्यादा ढलान भागों वाली भूमि में पाया गया। यह पाया गया है कि अधिक वर्षा के कारण मिट्टी के पोषक तत्व पानी के साथ बह जाते हैं। जिससे जड़ें खुल जाती हैं। आग और चराई से भी यह क्षेत्र खराब हो गये हैं। इस क्षेत्र में मिट्टी भी काफी कठोर हुई है। लगातार आग लगने से भी इन क्षेत्रों में मिट्टी में नमी कम पायी गयी जिससे कांटेदार झाड़ियां जैसे- बेल, बबूल आर बेर आदि बहुतायत में पाये गये हैं। सागौन एक एण्डोमाइकोराइजल प्रजाति है। इस क्षेत्र में इनकी संख्या घटती जा रही है, यह वृक्ष वृद्धि के लिए नकारात्मक संकेत है। इससे यह पाया गया है कि सागौन वृक्ष स्वयंस्थ शाखाएं, फूल एवं फल साथ ही साथ कीट रोग प्रतिरोधक क्षमता उत्पन्न करने के लिए अपनी उर्जा एवं प्रकाश संश्लेषण किया करने के लिए करता है।

v/kz I ¶ks I kxk&u ds o{k ea cfUMx , oa efYpx



en'k fo'y's'k.k

दो विभिन्न कम्पार्टमेंट से मृदा के नमूने इकट्ठे कर विप्लेशित किए गये मृदा में पोषक तत्वों की उपलब्धता जांचने के लिए मृदा क्रिया (पी.एच) एक प्रमुख कारक है। मृदा में पोषक तत्वों का अनुपात एवं घुलनशीलता घटती बढ़ती रहती है। मृदा की पी.एच. रेंज 6.5 से 7.0 में मृदा पोषक तत्वों की उपलब्धता अधिक होती है। वजाय अम्लीय पी.एच. (6.0 से नीचे) मृदा में नाइट्रोजन एवं पोटैशियम की उपलब्धता कम से अधिक पी.एच. रेंज में पायी जाती है, एवं फॉस्फोरस की उपलब्धता कम पी.एच. रेंज में पायी गयी है।

कन्हान सागौन वन परिक्षेत्र से लिए गये मृदा नमूनों में पोषक तत्व बहुत कम पाये गये हैं। यह प्रदर्शित करता है कि जड़ तंत्र के आस पास सूक्ष्म जीवों की क्रिया विधि बहुत ही घट गई है। इसलिए जड़ तंत्र एवं उपरी मृदा में पोषक तत्वों में कमी आई है, एवं मृदा कठोर होकर एक पथरीली स्तर के रूप में निर्मित हो गई है, जिससे वृक्षों का जड़ तंत्र क्षतिग्रस्त हुआ है एवं वृक्ष सूख गये हैं। मृदा के पोषक तत्वों की कमी एवं सहायक मृदा बैक्टीरियम की कम वृद्धि के कारण वृक्षों की जड़ें मृत होती जा रही हैं। वर्तमान स्थिति को देखते हुए इन क्षेत्रों में सागौन वृक्षों के विकास के लिए सुनिश्चित देखभाल एवं सुधार की आवश्यकता है।

l kxk'u o'k i j , d o"l ckn ubz i ffr; ka



i Lrkfor mi pkj .k

इस क्षेत्र में उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर द्वारा उपचारण किया गया है।

1. इस क्षेत्र की कटाई बंद की जावे।
2. प्रभावित वन कक्ष में सागौन रोपण कर पुनरुत्पादन बढ़ाया जावे।
3. अग्नि एवं चराई से बचाव किया जावे।
4. क्षेत्र में प्रभावित वृक्षों में मिट्टी चढ़ाना, कंटूर ट्रेंच द्वारा जल संवर्धन, गोबर खाद, रेत, यूरिया एवं पोटैस मिश्रण कर उपचारण।
5. नीलाथोथा (कॉपर सल्फेट), चूना, क्लोरोपाइरिफॉस (0.05 प्रतिशत) 2 मिली प्रति लीटर पानी में (5:5:50) कीटनाशक द्रव के मिश्रण को प्रभावित वृक्ष के तने में पोतना।
6. पूर्ण रूप से सूखे एवं संकमित वृक्षों को काटकर निकालना।
7. विलयर फेलिंग के क्षेत्र में रोपण करना।

ou {ks= dh mi pkj .k i fdr; k

सागौन वन क्षेत्र में उपचारण प्रक्रिया निम्नानुसार है—

1. प्रभावित क्षेत्र 278 हे. का सीमांकन।
2. कुल 11110 आधे सूखे वृक्षों का उपचारण।
3. पूर्ण रूप से सूख चुके 3810 वृक्षों की मार्किंग कर कटाई हेतु प्रस्तावित।
4. आधे सूखे वृक्षों की गिनती करके उनका उपचारण करना।
5. 20-25 हे. के 1 या 2 कम्पार्टमेंट को लगभग 5 वर्ष तक जैविक कारक के विरुद्ध बंद करके सागौन के एवं उसके सहयोगी पौधों का अध्ययन करना चाहिए। बीजों के नमूने अंकुरण जांचने के लिए हर साल एकत्रित करना चाहिए। मृदा का उपयोगी सूक्ष्म जीवों का भी अध्ययन करना चाहिए। वृक्षों का विकास एवं रोग/कीटों का भी विस्तृत अध्ययन भी करना चाहिए।

ऊतक संवर्धन तकनीक द्वारा बांस का उत्पादन

MKW ; kx's'oj feJk

आनुवांशिकी एवं पादप प्रजनन प्रभाग, उष्ण कटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर

बांस को पारंपरिक रूप से "गरीब का काष्ठ" कहते हैं। भारत वैश्विक बाजार में एक बड़ा निर्यातक देश है, जो लगभग 500 अरब रूपयों का वार्षिक निर्यात करता है। भारत के 95.8 लाख हेक्टेअर भूमि पर विश्वभर में पाई जानेवाली 1250 प्रजातियों में से लगभग 125 विभिन्न बांस की प्रजातियाँ पाई जाती हैं, जिनसे लगभग 200 लाख टन का वार्षिक उत्पादन होता है।

विभिन्न वृक्ष प्रजातियों में ऊतक संवर्धन की दृष्टि से बांस का संरक्षण अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया है, क्योंकि जहां एक ओर कागज व लुगदी निर्माण, गृह निर्माण व बंसोड़ो को जीविकापुर्ण हेतु बांस प्रदान करने से इन प्रजातियों के वनों पर दबाव बढ़ा है वहीं दूसरी ओर बांस की किसी प्रजाति द्वारा पूरे जीवन चक्र में सिर्फ एक बार पुष्पन होने से (लगभग 48 वर्ष में एक बार) इनके बीजों की उपलब्धता भी अनिश्चित होती है, साथ ही पुष्पन के बाद बांस का पूरा पेड़ स्वतः ही सूख जाता है, कलम द्वारा बांस का वृहद पैमाने पर उत्पादन भी सैद्धांतिक तौर पर संभव नहीं है। अतः ऐसी कठिन

प्राकृतिक परिस्थितियों में मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बांस का ऊतक संवर्धन द्वारा पुनरुत्पादन एक महती आवश्यकता है।

fof/k

1 jk' .k (Inoculation of Explant)

बांस के उन्नत किस्म के पौध के नए शाखाओं से गांठ का हिस्सा एकत्र किया जाता है। गांठ में स्थित कली से नए शाखाओं का निर्माण शुरू होता है। अतः गांठ का हिस्सा इसमें स्थित कली के प्रस्फुटन के पूर्व ही करीब दो से ढाई सें.मी. आकार में काट लिया जाता है। इन गांठवाले हिस्सों को करीब 8 मिनट सिट्रामाइड से धोने के बाद सामान्य जल से धोया जाता है तत्पश्चात् लेमीनार फलों के सामने बेक्टीरिया मुक्त अवस्था में मरक्यूरिक क्लोराइड के 0.01 प्रतिशत घोल में पांच से सात मिनट धोने के बाद जीवाणु (बेक्टीरिया) मुक्त जल से धोया जाता है फिर इसे मीडिया में रोपित कर परखनली या प्लास्क को संवर्धन कक्ष में रख दिया जाता है।



2 'kk[kkvka dk cgqku (Shoot Multiplication)

लगभग तीन सप्ताह के पश्चात हारमोन के प्रभाव से छोटी शाखाओं का निकलना शुरू हो जाता है जिनके पूर्ण विकसित होने पर पुनः नए मीडिया में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया को तब तक जारी रखा जाता है जब तक निर्धारित लक्ष्य की संख्या में शाखाएं नहीं मिल जाती।

3 tMkri knu o gkMfuax (Rooting & Hardening)

पूर्ण विकसित शाखाओं में जड़ों की प्राप्ति हेतु उन शाखाओं को ऑक्सिनयुक्त मीडिया में डाला जाता है जिसके प्रभाव से तीन से चार सप्ताह में जड़ों का आना प्रारंभ हो जाता है। जड़ों की प्राप्ति के पश्चात् पौधों को कीटाणुमुक्त मिट्टी व रेत के मिश्रण में

कुछ सप्ताह रखने के पश्चात् निर्धारित स्थानों पर रोपित किया जाता है।

4 vkfFkd fo'y\$k.k (Economics)

एक आदर्श व न्यूनतम क्षमतावाले ऊत्तक संवर्धन प्रयोगशाला के निर्माण हेतु अनुमानित व्यय लगभग 4 लाख रुपये तथा ग्लासवेयर व रसायनों पर प्रारंभिक व्यय एक लाख रुपये है। इस तकनीक द्वारा एक बांस के पौधे का निर्माण व्यय लगभग दस से पन्द्रह रुपये निर्धारित किया गया है। विकसित की गई ऊत्तक संवर्धन की तकनीक संस्थान के पास उपलब्ध है जिसे हितग्राही बिना किसी लागत के प्राप्त कर सकते हैं। ऊत्तक संवर्धन की तकनीक से विकसित बांस की दो प्रजाति बाम्बूसा टुल्डा एवं बाम्बूसा न्यूटान्स के पौधे संस्थान के पास उपलब्ध है।

मृदा परीक्षण की वानिकी में उपयोगिता

f'kodekj dksj o] jke cgkngj eka>h] MW, -dsHkkfed , oa euh"k l i dky

वन पारिस्थितिकी एवं पुनर्वास प्रभाग, उष्ण कटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर

i fjHkk"kk – "पृथ्वी की ऊपरी सतह जिसमें विभिन्न प्रकार के मोटे मध्यम और बारीक कार्बनिक तथा अकार्बनिक मिश्रित कणों की एक परत पायी जाती है, जो मृदा कहलाती है" जिसका अध्ययन विज्ञान की एक शाखा 'मृदा विज्ञान' (पीडोलॉजी) के अंतर्गत किया जाता है।

enk dk fuekzk –

मृदा का निर्माण चट्टानों में होने वाले विभिन्न प्रकार के रासायनिक एवं भौतिक परिवर्तन के कारण चट्टानों के छोटे-छोटे टुकड़ों में टूटने एवं जीव जंतुओं के कार्बनिक कणों के मिलने से होता है। यह लंबी प्रक्रिया होती है जिसमें कई वर्षों तक चट्टानों में रासायनिक एवं भौतिक क्रियाएँ होती रहती हैं। जिससे चट्टानें टुकड़ों में टूट जाती हैं यह प्रक्रिया अपक्षय (वेदरिंग) कहलाती है। अपक्षय क्रिया महत्वपूर्ण होती है क्योंकि इसके कारण ही मृदा कृषि एवं वनों के वृद्धि के अनुकूल हो पाती है। मृदा विभिन्न प्रकार के कणों से मिलकर बनी होती है। इनमें जो औसतन न्यून मात्रा के कण हैं, वे ही मृदा को उर्वरा बनाने में सहायक होते हैं। इनके कारण ही मृदा की मृदुकण रचना की उत्पत्ति होती है। इस रचना द्वारा मृदा में जल अवशोषण की क्रिया बढ़ जाती है तथा पौधों के लिए अन्य विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थ भी अवशोषित होते हैं।

enk ds idkj &

सर्वप्रथम 1879 ई. में Mkd 'kb ने मृदा का वर्गीकरण किया और मृदा को सामान्य और असामान्य मृदा में विभाजित किया। मृदा के रंग भिन्न होते हैं। कुछ मृदा सफेद होती है कुछ लाल, कुछ भूरी, कुछ काली तथा कुछ राख के रंग की होती है। भारत में मृदा को प्रमुख रूप से पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है –

1. जलोढ मृदा या कछार मृदा
2. काली मृदा या रेगर मृदा
3. लाल मृदा
4. लैटराइट मृदा
5. मरु मृदा

1. tyks enk – उपयोगिता तथा विस्तार की दृष्टि से यह भारत की सबसे प्रमुख प्रकार की मृदा है। भारत की कृषि सम्पदा का अधिकांश भाग इसी मृदा की उपज से प्राप्त होता है। इस प्रकार की मृदा में मृत्तिका अंश अधिक होता है तथा यह अपेक्षाकृत गाढ़े रंग का होता है। यह मृदा मुख्यतः बालू तथा मृत्तिका से संधारित होती है।
2. dkyh enk ; k jxj enk – यह मृदा मुख्यतः डेक्कन ट्रेप बेसाल्ट के अपक्षय (वेदरिंग) से ही उत्पन्न होती है। इस काली मृदा को रेगर कहते हैं। काली मृदा अत्यधिक उपजाऊ होती है परन्तु कई काली मृदा जो मुख्यतः उच्च भूमि में पायी जाती है। अनुपजाऊ होती है। काली मृदा में कैल्सियम तथा मैग्नेशियम कार्बोनेट के अंश अधिक रहते हैं। काली मृदा का काला रंग उसमें उपस्थित कार्बनिक पदार्थ तथा ह्यूमस के कारण होता है।
3. yky enk – अधिसिलिक ग्रेनित तथा नाईस शैल समूहों के अपक्षय से लाल मृदा उत्पन्न होती है। लाल मृदा में नाइट्रोजन, स्फुर तथा ह्यूमस का अंश बहुत कम होता है इसमें चूना, पोटाश तथा लौह आक्साइड की मात्रा भी काफी कम पायी जाती है।
4. yMjkbV enk – मौसमी जलवायु वाले भागों में विशेष प्रकार अपक्षय से लैटराइट मृदा की उत्पत्ति होती है। इस मृदा में लोह तथा एल्युमिनियम के हाइड्रेड आक्साइड का सम्मिश्रण

रहता है। इसमें मैग्नीज आक्साइड तथा टाइटानिया इत्यादि भी कम मात्रा में पाये जाते हैं इस प्रकार की मृदा में चूना मैग्नेशिया पोटाश तथा नाइट्रोजन का अभाव रहता है।

5. e: enk – मरु मृदा में महीन कण पाये जाते हैं। तथा यह कुछ भूरी रंग की होती है। इस प्रकार की मृदा में कार्बनिक पदार्थ की लीचिंग हो जाती है तथा यह कम उपजाऊ भूमि होती है। इसकी जल धारण क्षमता भी काफी कम होती है इसमें पोटाश मैग्नेशियम नाइट्रोजन कैल्सियम आदि पोषक तत्व अल्प मात्रा में पाये जाते हैं।

kkjro"l ea enk dk forj.k &

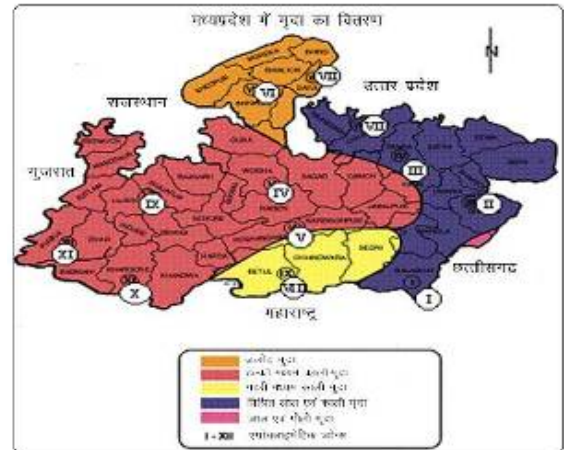
1. जलोढ मृदा – जलोढक प्रकार की मृदा भारत के उत्तरी प्रदेशों जैसे पंजाब उत्तर प्रदेश एवं दिल्ली में फैले हुए सिंधु गंगा के मैदानी भाग में पाई जाती है इसके अतिरिक्त उत्तरी गुजरात के अहमदाबाद एवं खैरा जिलो में मध्यप्रदेश के बालाघाट छत्तीसगढ के दुर्ग रायपुर तथा बिलासपुर जिलो में फैली हुई है।
2. काली मृदा या रेगर मृदा – काली मृदा मुख्यतः महाराष्ट्र पश्चिमी मध्यप्रदेश मैसूर आंध्रप्रदेश एवं गुजरात के कुछ क्षेत्रों में तथा मद्रास के रामनद एवं तिनवेली जिलो में पायी जाती है।
3. लाल मृदा – यह मृदा मद्रास मैसूर दक्षिण पूर्व महाराष्ट्र पूर्वी आंध्रप्रदेश मध्यप्रदेश उडीसा एवं छोटा नागपुर के कई भागों में पाई जाती हैं।

4. लेटराइट मृदा – इस प्रकार की मृदा डेक्कन, मैसूर केरल, मध्यप्रदेश उडीसा महाराष्ट्र मलावार तथा असोम के कई भागो में पाई जाती है।

5. मरु मृदा – यह मृदा सिन्धु नदी तथा अरावली पर्वतों के बीच में स्थित राजस्थान तथा दक्षिण पंजाब के शुष्क प्रदेशों के कई भागों में पाई जाती है।

e/; i n'k ea enk dk forj.k &

मध्यप्रदेश क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत का दूसरा बडा राज्य है। यहाँ पर सभी प्रकार की मृदा पाई जाती है – प्रदेश के बैतूल छिन्दवाडा एवं सिवनी में हल्की मध्यम काली मृदा पाई जाती है। जबकि अन्य जिले जैसे कि नरसिंहपुर, होशंगाबाद, हरदा शहडोल उमरिया, जबलपुर कटनी सागर दमोह विदिशा रायसेन भोपाल सीहोर राजगढ उज्जैन देवास शाजापुर मंदसौर नीमच रतलाम झाबुआ धार इंदौर खरगौन बडवानी खंडवा गुना शिवपुरी दतिया सीधी अनूपपुर अशोकनगर बुरहानपुर अलीराजपुर सिंगरौली आदि जिलों में गहरी मध्यम काली मृदा पायी जाती है। ग्वालियर मोरेना श्योपुर भिंड शिवपुरी का कुछ भाग में जलोढ मृदा पाई जाती है। प्रदेश के अन्य जिले जैसे – मण्डला डिण्डोरी बालाघाट रीवा सतना पन्ना छतरपुर टीकमगढ शिवपुरी का कुछ हिस्सा गुना का कुछ भाग दतिया और सीधी के कुछ भागों में मिश्रित लाल एवं काली मृदा पाई जाती हैं।



enk ijh{k.k dh vko'; drk &

मृदा पौधों की वृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मृदा के बिना पेड़ पौधों की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। मृदा पेड़ पौधों को जल एवं विभिन्न प्रकार पोषक तत्वों को प्रदान करती है। जिससे पेड़ पौधे अपनी वृद्धि करते हैं। मृदा में कार्बनिक एवं अकार्बनिक सभी प्रकार के पोषक तत्व पाये जाते हैं। पोषक तत्वों की कमी या अधिकता से पेड़ पौधों की वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा वे विभिन्न प्रकार की बीमारियों से ग्रसित हो जाते हैं। पेड़ पौधों को कुछ अधिक मात्रा में पोषक तत्वों की आवश्यकता पड़ती है। जैसे नाइट्रोजन पोटेशियम फास्फोरस कैल्सियम मैग्नीशियम सोडियम कार्बन आक्सीजन तथा हाइड्रोजन तथा इसी प्रकार कुछ पोषक तत्वों की अल्प मात्रा पौधों के लिए आवश्यक होती है जैसे –लौह, गंधक सिलिका क्लोरीन, मैंगनीज, जस्ता, निकल, कोबाल्ट मोलिब्डेनम ताम्र, बोरान तथा सैलिनियम आदि।

नाइट्रोजन मृदा में कार्बनिक और अकार्बनिक दोनों रूपों में रहता है। अकार्बनिक रूप में नाइट्रेट और अमोनिया के रूप कार्बनिक पदार्थों के सड़ने से अमोनिया बनता है। अमोनिया पर जीवाणुओं की क्रिया से पहले नाइट्राइट और पीछे नाइट्रेट बनते हैं। जीवाणुओं से एंजाइम बनते हैं। जो मृदा को अपघटित करते रहते हैं। फास्फेट ऐपेटाइट से आता है। यह पौधों के फूल और फल के लिए लाभदायक होता है। पोटेशियम सल्फेट और कार्बोनेट के रूप में मृदा में रहता है तथा पौधों की रासायनिक क्रिया में सहायक होता है। इससे पौधों के पत्ते स्वस्थ रहते हैं। और प्रोटीन और शर्करा की मात्रा बढ़ती है। कैल्सियम मृदा में फास्फेट, कार्बोनेट और सल्फेट के रूप में मृदा में रहता है। इससे पौधों के तने मजबूत होते हैं। यह मृदा की अम्लता को कम करता है। और उससे पौधों को लाभ पहुंचता है। मैग्नीशियम कार्बोनेट के रूप में मृदा में रहता है यह पौधों में क्लोरोफिल के बनाने में सहायता पहुंचाता है। कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन मृदा में कार्बनिक पदार्थ और जल द्वारा प्राप्त होते हैं पौधे मृदा से ये तत्व कार्बोनेट के रूप में होते हैं, लेकिन

अधिकांश कार्बन पौधों को वायु द्वारा प्राप्त होता है पौधे हाइड्रोजन और आक्सीजन को मृदा से जल के रूप में प्राप्त करते हैं। सोडियम क्षारीय तत्व है और मृदा में सल्फेट तथा कार्बोनेट के रूप में पाया जाता है।

न्यून तत्वों में लौह तत्व अत्यंत आवश्यक है। यह मृदा में आक्साइड के रूप में रहता है और क्लोरोफिल के बनने में सहायता पहुंचाता है। गंधक मृदा में सल्फेट के रूप में रहता है। यह पौधों में प्रोटीन को बढ़ाता है। क्लोरीन मृदा में कैल्सियम, मैग्नीशियम और सोडियम क्लोराइड के रूप में पाया जाता है। यह तत्व पौधों के पत्तों को बढ़ाता है। और मोटा करता है। अन्य तत्व पौधों की क्रियाओं को संतुलित रखकर फूलों और फलों के बनने में सहायक होते हैं। मृदा में अनेक जीवाणु कीटाणु और जीवजन्तु पाये जाते हैं। जो अनेक रासायनिक अभिक्रियायें संपन्न कर मृदा के गुण में परिवर्तन करते हैं।

Okkfudh esenk ijh{k.k ds mnns'; &

1. मृदा में पोषक तत्वों के स्तर की जाँच करके वन पेड़ पौधों के पोषक तत्वों की संतुलित मात्रा का निर्धारण करता।
2. मृदा की अम्लीयता, लवणीयता एवं क्षारीयता की पहचान एवं सुधार कार्य।
3. पौधारोपण से पहले मृदा के पोषक तत्वों का परीक्षण करके उसी आधार पर पौधारोपण कराना।
4. मृदा उर्वरता मानचित्र तैयार करने में। इस मानचित्र से विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों के अध्ययन में सहायता मिलती है।

enk dk ueuk ,df=r djuk &

मृदा परीक्षण के लिये सबसे महत्वपूर्ण होता है कि मृदा का सही नमूना एकत्रित किया जाये। इसके लिए जरूरी होता है कि नमूना इस प्रकार लिया जाये कि वह जिस स्थान से लिया गया हो उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व करता हो।

मृदा नमूना एकत्रित करने हेतु आवश्यक सामग्री – खुर्पी, फावडा, ट्रे, कपडे एवं प्लास्टिक की थैलियाँ पेन धागा सूचना पत्रक आदि।

ifrfuf/k ueuk , d=hdj.k fof/k &

1. जिस वन स्थल से हमें मृदा का नमूना परीक्षण हेतु एकत्रित करना है वहाँ सर्वप्रथम घास कूड़ा करकट पत्ते आदि को फावड़े से साफ कर लेना चाहिए।
2. साफ किये हुए स्थान पर 60 सेमी गहरा एवं 15 से 20 सेमी चौड़ा एक गड्ढा खोदा जाता है।
3. गड्ढा की मृदा को निकालकर बाहर कर देते है। तदुपरांत गड्ढे की दीवाल से 2 सेमी की परत को उपर से नीचे की ओर 60 सेमी तक खुरपी या फावड़े की सहायता से निकालकर ट्रे में रख लेते है।
4. ट्रे में रखी मृदा को प्लास्टिक बैग या कपड़े के बैग में भरकर उसमें सूचना पत्रक को बांध देते है।
5. सूचना पत्रक में मृदा के नमूने से संबंधित समस्त जानकारी होती है जैसे कि मृदा नमूने का स्थान, जी. पी. एस. मान, दिनांक, कम्पार्टमेंट नंबर, रेंज का नाम, नमूना एकत्रित करने वाले का नाम इत्यादि।

enk dks ijh{k.k grq r\$ kj djuk &

वन स्थल से आये हुए मृदा के नमूने को परीक्षण करने के पहले प्रयोगशाला के अतिरिक्त कक्ष में तैयार किया

जाता है। नमूने को सर्वप्रथम हवा में सुखाया जाता है जिससे नमूने की नमी दूर हो जाये। जब नमूना पूर्णतः सूख जाता है तब इस नमूने को लकड़ी से बने खलबट्टा से कूटा पीसा जाता है जिससे मृदा अत्यंत महीन कडो में परिवर्तित हो जाये। इसके बाद मृदा को 2 मिमी की चलनी में छाना जाता है। अब छनी हुई मृदा प्रयोगशाला में परीक्षण के लिये तैयार हो गयी।

lk, ks'kkyk ea enk dk ijh{k.k&

प्रयोगशाला में वन मृदा का परीक्षण विभिन्न प्रकार की विधियों से किया जाता है। प्रयोगशाला में उपलब्ध नाइट्रोजन उपलब्ध फास्फोरस उपलब्ध पोटेशियम कार्बनिक प्रतिशत मात्रा पी0एच0 वैधुत चालकता कैल्सियम मैग्नीशियम सोडियम मृदा के भौतिक गुणों आदि का परीक्षण किया जाता है।

मृदा परीक्षण से मध्यम स्तर (पर्याप्त) एवं उच्चस्तर (अधिकता) के हिसाब से आगे पौधारोपण करने के लिए आवश्यक उर्वरक एवं खाद की मात्राओं की सिफारिश की जाती है। इस प्रकार मृदा परीक्षण से पौधों की वृद्धि सही प्रकार से हो इसमें सहायता मिलती है एवं स्वस्थ पेड पौधों की प्राप्ति होती है।

ifrfuf/k ueuk , d=hdj.k fof/k



Eknk ijh{k.k ea rRoka dh l hek, a &

टी.डी. विश्वाल और एस.के. मुखर्जी की पुस्तक टेस्ट बुक ऑफ स्वाइल साइंस 1992 में दी गयी सीमाएं निम्न प्रकार से है

dzl a	Eknk rRo	fuFuture eku	e/; e eku	mPpre eku
1-	कार्बनिक कार्बन (%)	0.5	0.5 – 0.75	0.75
2-	उपलब्ध फास्फोरस (किग्रा/हे.)	22.4	22.4 – 56	56
3-	उपलब्ध पोटेशियम (किग्रा/हे.)	140	140 – 336	336
4-	उपलब्ध नाइट्रोजन (किग्रा/हे.)	280	280 – 560	560

Invasive plants

Swaran Lata and Nidhi Mehta

Biodiversity Division, Tropical Forest Research Institute, Jabalpur

Over the last many years a number of invasive plant species have been introduced in India knowingly or unknowingly from their native habitat without realizing the consequences. Most of the invasive species have naturalized and are being used for various purposes ranging from medicinal uses, attachment to religious sentiments, furniture, compositing etc. Many have been assigned as "Noxious Weeds" and are a major concern to our agricultural and forest community. These species are causing extensive economic and ecological damage throughout the world.

Plants that are not indigenous to specific ecosystem and become established in new environment, then proliferate and spread in ways that are destructive to human interest, ecosystem and environment, are considered as "Invasive Alien Species". These alien plant species cause a serious threat to native species, their habitat and functioning of different ecosystem. Once established, invasive species threaten the sustainability of native communities by altering their structure, composition, and functions. Invasive species are the second leading cause of biodiversity loss worldwide, mainly due to their ability to outcompete and replace native species.

Many invasive plant species can quickly occupy large extent of area in a short period of time. Invasive process can be divided into four stages viz., introduction, establishment, lag period and expansion. Although many species are introduced into new regions, not all become invasive. The ability of alien invasive species to become established, i.e. develop a self sustaining population, is dependent on multiple factors. It affects the native species directly or indirectly in number of ways like they compete with native species for food, space, change in food web, physical environment, broad ecological requirements, tolerances, large geographical ranges, associations with disturbed habitats and origins from large continents with diverse biota, geographical isolation, low diversity of native species, high levels of natural disturbance or human activities, and absence of coadapted enemies i.e., competitors, predators, herbivores, parasites, and diseases are the characteristics of successful invaders.

Abundant production of long-lasting viable seeds, release of allelochemicals which lower soil pH and altered nutrient cycling are also important factors which affect growth of native plants. Pollinating insects usually prefer

these species as they produce more pollen grains and nectar than the native ones. The resultant fall in the pollination rate of the native plants would affect the local biodiversity and its regeneration. Such characteristics make them highly competitive and able to establish and spread easily. Description of some of the common invasive alien plants is given below.

Ageratum conyzoides:



It belongs to family Asteraceae and known as goat weed. It is an annual, erect, foetid herb. Leaves are ovate to triangular, base rounded or truncate, margin serrate, apex acute or acuminate. Heads in terminal corymbs. Florets are blue or white. Achenes black, 5-angled. Pappus scales 5, serrate, awn-tipped.

Uses: In Manipur the whole plant is used traditionally as hair lotion, known as 'Cheng-hi' which is prepared by boiling the plant with rice water. The leaves are used for application on cuts, sores, anti-itch, sleeping sickness, and mouth wash for toothache, antitusive, vermifuge, tonic and killing lice.

Allaria patiolata:

It belongs to family Brassicaceae and known as Garlic mustard. It is an annual or biennial herb. Basal leaves are loosely rosulate, cordate to reniform, long-petioled, dentate. Cauline leaves are often ovate-triangular, dentate, shortly stalked. Racemes 15-30-flowered, lax. Flowers are white and seeds are many.



Uses: Chopped leaves, flowers and fruits are used for flavoring of cuisines by poor people. Paste of the leaves is used to heal wounds.

Calotropis procera:



It belongs to family Asclepiadaceae and known as Madar, Swallow Wort. It is a large bushy shrub. Leaves are decussate, obovate, coriaceous, apex acute and sessile.

Inflorescence is axillary or terminal umbellate panicle. Corolla white or purple, follicles subglobose or ovoid. Seeds are light brown and minutely tomentose.

Uses: It is used to treat common diseases such as fever, rheumatism, indigestion, cold, eczema, leucoderma and diarrhoea. Young leaves are crushed and the juice is pressed on the palms of snake-bitten person to confirm whether the snake that had bitten was poisonous or not.

Celosia argentea:

It belongs to family Amaranthaceae and known as wool flower. It is an erect herb. Leaves are elliptic ovate below and linear lanceolate, base cuneate, margin entire, apex acute, glabrous. Inflorescence is axillary and terminal, spikes dense, stout, imbricate. Flowers white and utricle included by perianth.



Uses: Leaves and flowers are eaten by tribal communities.

Crotalaria retusa:

It belongs to family Papilionaceae. It is an undershrub, branches pubescent. Leaves are simple, oblanceolate, glabrous above, pubescent below, base attenuate, margin entire, apex obtuse, retuse. Racemes are terminal, corolla slightly exceeding calyx, yellow. Pod is oblong-terete glabrous, much exceeding calyx.



Uses: Decoction of the plant is used in scabies, loss of menses and keeping away snakes.

Lantana camara:

It belongs to family Verbenaceae and commonly known as wild sage.



It was introduced in India as an ornamental shrub during 1809-1810. It is straggling, armed shrubs, up to 2.5 m tall. Leaves are cordate, margin crenate, serrate, rugose and hispid above, sparsely hispid beneath. Flowers are in various colours, pink, white, crimson, orange or rose, in axillary, capitate spikes. Drupes ripe black, globose.

Uses: It is cultivated as ornamental plant and used in household furniture, such as tables and chairs made from the stalks, and the small branches are bundled together to make brooms.

Oxalis corniculatus:

It belongs to family Oxalidaceae and known as Indian sorrel. It is a diffuse herb, rooting at lower nodes. Leaves digitately 3-foliolate; leaflets obcordate, cuneate, entire, emarginate. Flowers yellow in axillary umbels. Capsule is oblong, 5-angled, tipped with persistent style.



Uses: The leaves are eaten as vegetable and a drink which is rich in vitamin C is made by infusing the leaves in hot water.

Parthenium hysterophorus:

It belongs to family Asteraceae and known as congress grass. It is an annual erect herb. Branches are angular, grooved, hairy. Leaves are alternate, pinnatifid, pinnules opposite, oblong-lanceolate, apex acute. Heads white, bisexual, in terminal panicles heterogamous, female floret ligulate. Achenes obovoid, flattened, dorsally compressed.



Uses: It is applied externally for skin disorders and decoction of the plant is often taken as a remedy for a wide variety of ailments.

Today we are facing major problems like control, eradication and management of invasive plants which are the second leading cause of biodiversity loss worldwide due to large economic costs associated with their control. If the invasion of species is not checked, ecosystem of the world may soon be occupied by these aggressive cosmopolitan species. Manual uprooting, burial, chemicals, crop competition and biological control are major methods to control these invasive plants but these have certain limitations. Appropriate strategies will have to be devised

for their control, eradication and management of these invasive plants. Import and export of these plant materials should be checked at the entry or exit points strictly. Many organizations are involved in eradication programme but at present there is not much awareness among the public about the existing and potential threats of these plants. Hence invasive plant education and awareness programmes for people are

required to make them aware about the harmful effects, substitute of these invasive plants, eradication methods and how to utilize the eradicated raw materials for economic uses. Invasive species do not recognize any political boundaries set by humans; hence it is important to work within a collaborative environment to design adaptive management strategies to control our greatest threat to biodiversity.

महुआ : एकत्रीकरण एवं मूल्यवर्धन की सम्भावनाये

डॉ. विशाखा कुंभारे

वानिकी अनुसन्धान एवं मानव संसाधन विकास केंद्र, छिंदवाडा

प्राचीन काल से महुआ मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के आदिवासी अंचल में बहुत प्रसिद्ध है। महुआ को अंग्रेजी में "बटर टी" के नाम से भी संबोधित किया जाता है। यह मूलतः भारत के मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, छत्तीसगढ़, गुजरात, आंध्र प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, कर्णाटक तथा तमिल नाडू राज्यों में पाया जाता है एवं इन सभी राज्यों के आदिवासियों की पारंपरिक जीवनशैली में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। यह एक पर्णपाती प्रजाति है जो आमतौर पर वन एवं वन के बाहर किसानों के खेत में भी पाया जाता है।

जब कृषि की उपज कम होती है उस वक़्त महुआ के पुष्प मध्य मार्च से अप्रैल मध्य तक खिलते हैं। इस अवधि के दौरान हरदिन आमतौर पर फूल सुबह ४.०० से दोपहर १२.०० बजे के बीच झड़ते हैं। भारत में महुआ फूल को इकट्ठे करने का काम ज्यादातर आदिवासी या जंगल के करिब रहने वाले गरीब तबके के लोग करते हैं। भारत के ७५% आदिवासी समूह महुआ फूल एकत्रीकरण के कार्य से जुड़े हैं। यह काम उनके लिए आजीविका का एक प्रमुख साधन है। स्थानीय आदिवासी इन दिनों महुआ पेड़ के नीचे की जगह झाड़कर साफ़ करते हैं तथा कभी-कभी सुखी पत्तियों को जला देते हैं जिससे महुआ फूल इकट्ठे करने में उन्हें आसानी हो। इन दिनों आदिवासी परिवार का हर एक सदस्य इस काम में जुट जाता है। ज्यादातर महिला एवं बच्चे महुआ फूल एकत्रीकरण में प्रमुख भूमिका निभाते हैं और यह कार्यक्रम प्रायः ३-४ हफ्तों तक चलता रहता है। दैनन्दिनी सामान खरीदने के लिए वे जब आर्थिक तंगी से गुजरते हैं तब पैसे की एवज में महुआ फूल को बेचकर अपना जीवन व्यापन करते हैं।

महुआ फूल के पौष्टिक एवं औषधीय गुण

महुआ फूल एक खाद्य पदार्थ है जिसमें विभिन्न पौष्टिक तत्व जैसे शर्करा (४०-७०%), प्रोटीन (४-७%), रेशा, वसा, ग्यारह आवश्यक अमीनो एसिड्स और विभिन्न प्रकार के आवश्यक खनीज जिनमें कैल्सियम, फोस्फोरस, पोटैशियम, सोडियम, मैग्नेशियम एवं लोह की मात्रा अच्छी होती है। इसके अतिरिक्त भरपूर मात्रा में विटामिन - रिबोफ्लाविन, फोलिक एसिड, अस्कोर्बिक एसिड पाए जाते हैं। हड्डियों तथा दात के लिए कैल्सियम एक मुख्य घटक है। फोस्फोरस भी कैल्सियम की तरह बहुत उपयोगी है क्योंकि कैल्सियम का इस्तेमाल इसपर निर्भर होता है। कैल्सियम फोस्फेट के रूप में कैल्सियम हमारे शरीर में इकट्ठा होता है। लोह एक आवश्यक खनीज है जो शरीर में लाल रक्त पेशियों में हेमोग्लोबिन बनाने में प्रमुखता से काम करता है।

आयुर्वेद (चरक संहिता) में महुआ फूल का उपयोग सर्दी-जुकाम, हृदय वीकार, कर्ण रोग, बवासीर जैसी बिमारियों के लिए वर्णित है। बवासीर के लिए फूल को घी में भुनकर खाने से लाभ होता है। आदिवासी परिवारों में महुआ फूल का विशेष स्थान है। वे सदियों से खाद्य पदार्थ के रूप में इसे इस्तेमाल करते आये हैं। फूल को कच्चे-पके, उबले, तले या किसी अन्य खाद्य सामग्रियों के साथ सामान्यतः खाए जाते हैं। महुआ फूल के लड्डू भी बनाये जाते हैं लेकिन सबसे प्रचलित उपयोग देसी दारू बनाने में होता है। यह महुआ दारू हर उत्सव तथा त्यौहार में आदिवासियों द्वारा उपयोग में लायी जाती है।

महुआ फूल के पारंपरिक एवं औद्योगिक उपयोग:

महुआ फूल पौष्टिकता से भरपूर होने के बावजूद इसका उपयोग वर्तमान में खाद्य पदार्थ बनाने में नहीं होता है। फूल का बहुतांश उपयोग देसी दारू निर्माण में होता आ रहा है चूंकि दारू निर्माण में गुणवत्ता के कोई मायने नहीं होते हैं। भारत में कुछ एक जगहों पर इसका इस्तेमाल देखा गया है। इनके अतिरिक्त मवेशियों के चारे के रूप में भी उपयोगी है।

परंपरागत विधि से महुआ फूल एकत्रीकरण के प्रभाव

- वर्तमान विधि से वन में आग फैलने का डर बना रहता है
- सूक्ष्म जीवाणु नष्ट होते हैं
- मृदा की नमी पर भी प्रभाव होता है
- वन में आग के कारण महुआ बीज अंकुरण में बाधा होती है
- वर्तमान की एकत्रीकरण विधि से महुआ फूल सिर्फ देसी दारू बनाने के उपयोग में लाया जा रहा है जिससे आदिवासियों की आर्थिक स्थिति में सुधार की संभावनायें कम
- जमीन से फूल इकट्ठे करने पर उनमें मिट्टी चिपक जाती है एवं फूल की गुणवत्ता पर असर एवं कम दाम की प्राप्ति होती है

वर्तमान की महुआ फूल एकत्रीकरण विधि (जमीन पर गिरे हुये)



- खाद्य पदार्थ निर्माण करना असंभव
- परिवार का हर सदस्य जूटा रहता है एवं हरदिन ८ घंटे काम
- ज्यादा परिश्रम / मेहनत एवं कठिन कार्य

महुआ फूल की उचित एकत्रीकरण विधि एवं उनके प्रभाव:

- वन विभाग द्वारा महुआ फूल एकत्रीकरण में जाली / मच्छरदानी जाली का उपयोग बहुत ही महत्वपूर्ण और लाभकारी दर्शाया गया है परन्तु वर्तमान में यह तकनीक आदिवासियों द्वारा कम ही अपनाई जा रही है। इसलिए सरल एवं कम लागत की विधि यह है की महुआ पेड़ के नीचे की जगह झाड़ू से साफ़ करके चादर या प्लास्टिक की पन्नी बिछाकर महुआ फूल इकट्ठे करने से फूल की अच्छी गुणवत्ता प्राप्त होगी।

कापड़ा बिछाकर महुआ फूल एकत्रीकरण विधि



कापड़ा बिछाकर इकट्ठे किये गये उच्च गुणवत्ता वाले महुआ फूल



- महुआ फूल एकत्रीकरण के बाद उन्हें प्लास्टिक की पन्नी बिछाकर सुखाना चाहिए जिससे उनकी गुणवत्ता बनी रहेगी।
- वन में आग लगने की सम्भावना कम होगी जिससे मृदा की नमी बरकरार रहने के साथ इनमें शामिल सुक्ष्म जीवाणु भी बचेंगे
- एकत्रीकरण के काम में लगने वाले आदिवासी परिवार के सभी सदस्यों के समय की बचत होगी साथ ही उस समय में व्यक्ति दूसरे जरूरी काम भी निपटा सकते हैं।
- अच्छी गुणवत्ता वाला महुआ फूल अच्छी आमदनी भी देगा जिससे आदिवासियों की आर्थिक स्थिति भी सुधरेगी
- कम परिश्रम एवं आसान
- इस विधि द्वारा प्राप्त अच्छी गुणवत्ता वाले महुआ फूल का सबसे महत्वपूर्ण उपयोग यह है की इससे विभिन्न

खाद्य पदार्थ भी बना सकते हैं। आदिवासी महिलाये इस कार्य को अपनाकर स्वयं रोज़गार के अवसर निर्माण कर सकते हैं एवं लघु उद्योग के स्तर पर इस व्यवसाय को बारहों महीने कार्यान्वित कर सकते हैं जो उनके लिए उन्नति की ओर एक नया कदम होगा।

महुआ फूल मूल्य वर्धन की संभावनायें

इस विधि से प्राप्त अच्छे गुणवत्ता वाले महुआ फूल से विविध खाद्य पदार्थ बना सकते हैं जैसे जैम, चटनी, शरबत और उनका प्रयोग कुपोषण से पीड़ित ग्रामीण लोगो में खाद्यपूरक के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। इस विधि से महुआ फूल के एकत्रीकरण से आदिवासियों के लिए मूल्य वर्धन के साथ रोज़गार के अवसर प्राप्त होंगे साथ ही आमदनी के निरंतर साधन भी बनेंगे।

आभार : निदेशक, वानिकी अनुसंधान एवं मानव संसाधन विकास केंद्र, छिंदवाडा के सतत उत्साहवर्धन हेतु आभार।

ट्री ऑफ़ सैडनेस (दुःखी वृक्ष)

राजेश कुमार मिश्रा एवं नसीर मोहम्मद

संगणक एवं सूचना प्रौद्योगिकी अनुभाग, उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर

पारिजात एक ओलिएसी परिवार का निकटेन्थिस वंश का वृक्ष है। इसका वैज्ञानिक नाम 'निकटेन्थिस आर्बोर्ट्रिस्टिस' है। अंग्रेजी में इसे नाइट जैस्मिन कहते हैं। इसकी जाति आर्बोर ट्रिस्टिस है। निकटेन्थिस का अर्थ होता है रात में खिलनेवाला और आर्बोर ट्रिस्टिस का अर्थ होता है दुःखी वृक्ष। यह एक पुष्प देने वाला वृक्ष है। इसे प्राजक्ता, हरसिंगार, शेफाली, शिउली आदि नामों से भी जाना जाता है। पारिजात के वृक्ष पररात्रि में सुन्दर और सुगंधित फूल खिलते हैं। विभिन्न भाषाओं में इसके नाम, संस्कृत- पारिजात, शेफालिका ; हिन्दी- हरसिंगार, परजा, पारिजात ; मराठी- पारिजातक ; गुजराती- हरशणगार ; बंगाली- शेफालिका, शिउली ; तेलुगू- पारिजातमु, पगडमल्लै ; तमिल- पवलमल्लिकै, मज्जपु ; मलयालम - पारिजातकोय, पविझमल्लि ; कन्नड़- पारिजात ; उर्दू- गुलजाफरी ; इंग्लिश- नाइटजेस्मिन ; लैटिन- निकटेन्थिसआर्बोर्ट्रिस्टिस, आदि हैं।

रात्रि में इसकी पत्तियाँ चमकदार एवं सीधी तनी हुई प्रतीत होती हैं। परन्तु प्रातः होने के कुछ समय पूर्व ही इसके फूल झर जाते हैं और पत्तियाँ भी चमकविहीन हो जाती हैं। इसी कारण इसे ट्री ऑफ़ सैडनेस एवं सैड ट्री नामों से भी जाना जाता है। पारिजात का अर्थ है समुद्र से उत्पन्न। पुराणों में ऐसी प्रथा प्रचलित है कि पारिजात वृक्ष

की उत्पत्ति समुद्र मन्थन के समय समुद्र अर्थात पारि से हुई थी इसलिए इस वृक्ष को पारिजात नाम दिया गया।



यह वृक्ष देवताओं को प्रसन्न करने के लिए देवराज इन्द्र को दिया गया था जो उनके देव उद्यान नन्दन में सदैव रहता था। देवतागण इसकी पूजा अर्चना करते थे। यह वृक्ष सदैव फूलने वाला, पवित्र सुगंधवाला एवं अतिउत्तम है। ऐसी प्रथा है कि इस वृक्ष के समीप जाने से मनुष्य को अपने पूर्व जन्म की बातों का ज्ञान होता है। महाकवि कालिदास के अनुसार कल्पवृक्षों में सबसे श्रेष्ठ एवं सुन्दर वृक्ष पारिजात ही है।

इस वृक्ष को हरसिंगार या शेफाली नामों से भी जाना जाता है। वनस्पति विज्ञान के जनक लिनिअस ने पारिजात के विषय में प्रचलित मिथकों एवं किंवदन्तियों की जानकारी प्राप्त करने के उपरन्त ही इसका वैज्ञानिक नाम दिया था। जॉन गेर्हार्ड ने अपनी पुस्तक द हर्बल में लिखा है कि इस वृक्ष पर केसर जैसे रंग के मध्य भाग वाले सफेद रंग के मधुर सुगंधित फूल खिलते हैं। ये फूल केवल रात्रि में खिलते हैं एवं प्रातःकाल होते ही झर जाते हैं। पत्तियाँ चमकविहीन होकर संकुचित हो जाती हैं और नीचे की ओर झुक जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे वृक्ष दुःखी हो गया हो।



पारिजात मुख्यतः मैदानी भागों का वृक्ष है। यह हिमालय के पर्वतीय इलाकों को छोड़कर संपूर्ण भारतवर्ष में

पाया जाता है। संस्कृत साहित्य के विद्वानों ने इसे अपने अनेक ग्रंथों में इसे पारिजात नाम से उद्धृत किया है। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में यह हरसिंगार के नाम से प्रसिद्ध है। इसे परजाता, शेफालिका, सड़सियारी, पारिभद्र, सेहाली आदि नामों से भी जाना जाता है। अंग्रेजी में इसे नाइट जैस्मिन कहते हैं। इसके गुणों के आधार पर इसे वीपिंग निकटेथिस, सैड ट्री, ट्री ऑफ सैडनेस, नाइट फ्लावरिंग जैस्मिन, ट्री ऑफ ऑफ सॉरो आदि नामों से जाना जाता है। पश्चिम बंगाल में पारिजात बहितायत में पाया जाता है। यह यहाँ का राज्य वृक्ष भी है। पश्चिम बंगाल में इसे शैफाली और शिउती नामों से जाना जाता है।

भारतवर्ष में पारिजात स्वतः उगता है अथवा इसे सप्रयास उगाया जाता है। शीत ऋतु में पारिजात को बीज या शाखाओं द्वारा उगाया जाता है। पारिजात में नमी सहन करने की क्षमता नहीं होने के कारण यह कीचड़, दलदल, पानी वाली जगहों, समुद्र के किनारे के भागों में नहीं उगता है। पारिजात की रोग प्रतिरोधक क्षमता अत्यंत कम होती है तथा यह कीड़े मकोड़ों को भी सहन नहीं कर पाता है। पारिजात में शुष्कता सहन करने की क्षमता होती है परन्तु कोहरा नहीं सहन कर पाता है। पारिजात आसानी से उगने वाला, अच्छी अंकुरण क्षमता वाला पौधा है। यह विविध प्रकार की मिट्टी, पानी और जलवायु में उगाया जा सकता है। इसका जीवन चक्र बहुवर्षीय होता है तथा वार्षिक चक्र मौसम पर निर्भर करता है। इसके समुचित विकास हेतु धूप और छाया दोनों आवश्यक हैं।

पारिजात का पौधा सामान्य रूप से दो से ढाई मीटर तक फैली हुई झाड़ी के रूप में पाया जाता है।

परन्तु समुचित देखभाल होने पर यह तीन से चार मीटर एवं कभी कभी पाँच मीटर ऊँचे वृक्ष के रूप में भी देखने को मिलता है। पारिजात एक नाजुक एवं छोटा वृक्ष है। इसकी शाखाएँ पतली आकार में कुछ चौकोर और बहुत नाजुक होती हैं। इसके तने और शाखाओं की छाल राख के समान रंग की होती है एवं उस पर छोटे छोटे गोल दाने पाये जाते हैं जिसे स्पर्श करने पर छाल खुरदरी प्रतीत होती है। इसकी छाल मोटी और स्वाद में कसैली और तीखी होती है। पारिजात वृक्ष के आंतरिक भाग अत्यंत विषैले होते हैं। इसके विषैलेपन का आज तक कोई प्रतिरोधक तत्व विकसित नहीं किया जा सका है। इसके तने की छाल के बाहरी भाग में विष नहीं पाया जाता है।

पारिजात के बीजों की अंकुरण क्षमता बहुत अधिक होती है। इसी कारण साल वृक्ष की भांति इसके वृक्ष के नीचे भी बहुत से छोटे छोटे पौधे अंकुरित होकर बिना किसी देखभाल के विकसित होते रहते हैं। यही कारण है कि पारिजात के वृक्ष की कोई कमी नहीं है। यह संपूर्ण भारतवर्ष में भली भांति फल फूल रहा है। यह अधिक वर्षा सहन नहीं कर पाता है एवं जड़ों में पानी भर जाने से मर जाता है। इसकी आयु पांच से दस वर्ष और कभी कभी बीस वर्ष तक होती है। पारिजात एक पतझड़ वाला वृक्ष है और इसकी पत्तियाँ प्रतिवर्ष झरकर नयी पत्तियाँ आती हैं। इसकी पत्तियाँ प्रायः जून माह में झरना प्रारंभ होती हैं एवं जुलाई माह में नयी पत्तियाँ आती हैं।

पारिजात के वृक्ष पर माह अगस्त में फूल आना प्रारंभ होते हैं और नवंबर तक खिलते रहते हैं। इसके फूल सुन्दर और भीनी भीनी सुगंध लिए हुए होते हैं। फूल

शाखाओं के सिरों पर गुच्छों में खिलते हैं। फूल रात्रि में खिलकर प्रातः झर जाते हैं। इसीलिए प्रातः पारिजात के वृक्ष के नीचे फूलों की चादर जैसी बिछी हुई पायी जाती है। पारिजात कि फूल तारे के समान सफेद रंग के होते हैं। फूल का मध्य भाग हल्की लालिमा लिए हुए पीले रंग का होता है। यह हलका, रूखा, तिक्त, कटु, गर्म, वात-कफनाशक, ज्वार नाशक, मृदु विरेचक, शामक, उष्णीय और रक्तशोधक होता है। सायटिका रोग को दूर करने का इसमें विशेष गुण है। इसके फूलों में सुगंधित तेल होता है। रंगीन पुष्प नलिका में निकटैन्थीन नामक रंग द्रव्य ग्लूकोसाइड के रूप में 0.1% होता है जो केसर में स्थित ए-क्रोसेटिन के सदृश्य होता है।

पारिजात के वृक्ष पर शीत ऋतु में फल आते हैं। इसके फल गोल, पतले, चपटे और लगभग डेढ़ सेन्टीमीटर व्यास वाले होते हैं। फल पकने पर सूखकर भूरे रंग का हो जाता है। इसका बीज भूरे रंग का, पतला, चपटा और गोल होता है जिसका व्यास लगभग एक सेन्टीमीटर होता है। बीज स्वाद में हल्का कसैला होता है। बीज मज्जा से 12-16% पीले भूरे रंग का स्थिर तेल निकलता है। पारिजात के फलों एवं बीजों से नारंगी रंग तैय्यार किया जाता है।

चिकित्सा जगत में पारिजात का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके समस्त अंगों से अनेक प्रकार की औषधियाँ तैय्यार की जाती हैं। इसके विभिन्न अंग कृमिघ्न, कफघ्न, मूत्रल, विषघ्न, स्वेदजनक, रक्तशोधक और ज्वरनाशक होते हैं। इसकी छाल से तैय्यार की गई औषधि खाँसी विशेषकर सूखी खाँसी में अत्यंत लाभदायक होती है। इसकी छाल का उपयोग श्वास संबंधी रोगों की औषधि तैय्यार करने में भी

किया जाता है। पारिजात की छाल के रस को साइटिका के दर्द वाले भाग पर लगाने से तुरंत राहत मिलती है। पारिजात की ताजी छाल को छाया में सुखाकर, कूट पीसकर, छानकर, बारीक चूर्ण बनाकर अस्थमा के रोगी को प्रतिदिन पान के साथ देने पर लाभ प्राप्त होता है। इसकी छाल का तेल आँख दर्द की औषधी बनाने में प्रयुक्त किया जाता है जो विशेष लाभप्रद होता है।



पारिजात की पत्तियों से भी अनेक प्रकार की देशी और आयुर्वेदिक औषधियाँ तैयार की जाती हैं। औषधी निर्माण हेतु पारिजात की ताजी पत्तियों का ही उपयोग करना चाहिए। यदि ताजी पत्तियाँ उपलब्ध न हों तो मार्च-अप्रैल में पत्तियों को संग्रहित करके, छाया में सुखाकर, सीलबन्द पात्र में भरकर शुष्क एवं शीतल स्थान में रखना चाहिए। इस प्रकार संग्रहित करने पर पत्तियों में नीहित औषधीय गुण नष्ट नहीं होते हैं। पारिजात की पत्तियों से समस्त प्रकार के ज्वर की औषधियाँ विशेषकर विषम ज्वर और काला ज्वर की औषधि तैयार की जाती है। पारिजात की पत्तियों का रस बालों में लगाने से रूसी समाप्त होती है और रात्रि में सोते समय सेवन करने से पेट के कीड़े समाप्त हो जाते हैं। पत्तों में टैनिन एसिड, मेथिलसेलिसिलेट, एक

ग्लाइकोसाइड (1%), मैनिटॉल (1.3%), एक राल (1.2%), कुछ उडनशील तेल, विटामिन सी और ए पाया जाता है। छाल में एक ग्लाइकोसाइड और दो क्षाराभ होते हैं।

पारिजात के फूलों से पौष्टिक औषधियाँ एवं फलों से सुगन्धित तेल तैयार किया जाता है। फलों के तेल का उपयोग विभिन्न प्रकार के इत्र तैयार करने में किया जाता है। पारिजात के फल और बीज भी औषधी निर्माण में प्रयुक्त होते हैं। इनसे पित्त रोग, चर्म रोग, ज्वर आदि की औषधी तैयार की जाती है। पारिजात के वृक्ष के विभिन्न अंगों के औषधीय उपयोग के संबंध में विभिन्न औषधीय अनुसंधान संस्थानों में शोध कार्य चल रहा है। अभी तक प्राप्त हुए शोध परिणामों में यह निष्कर्ष निकला है कि पारिजात के विभिन्न अंगों में कवकरोधी एवं विषाणुरोधी गुण नीहित होते हैं। इसकी पत्तियों में एल्कोहल के समान एक घुलनशील तत्व पाया जाता है जो शरीर की जलन एवं सूजन को दूर करने में उपयोग किया जाता है।



पारिजात के वृक्ष के विभिन्न अंगों का उपयोग अन्य कार्यों में भी होता है। इसकी पत्तियों को रेगमाल के समान जूतों को साफ करने में किया जाता है। फूलों से

नारंगी एवं पीला रंग तैय्यार किया जाता है। थाईलैण्ड में पारंपरिक रूप से पारिजात के फूलों से तैय्यार किये गये रंग का उपयोग कपड़ों को रंगने में किया जाता है। इसकी छाल से लाल रंग भी तैय्यार किया जाता है। इस प्रकार पारिजात एक दुःखी वृक्ष होकर भी मानव जाति को सुखी रखने का कार्य निरन्तर कर रहा है।

वृक्ष चाहे कोई भी हो प्रकृति की दृष्टि से वह

अत्यंत महत्वपूर्ण है। पिछले कुछ दशकों से बढ़ते हुए शहरीकरण एवं जनसँख्या के दबाव ने वृक्षों को नष्ट किया है जिसने प्राकृतिक आपदाओं को आमंत्रित किया है। देश में निरन्तर जलस्तर का गिरना और सूखे की स्थिति निर्मित होना इसी का परिणाम है। पेड़ पौधे, वृक्ष, फूल पत्ते हमें वर्षा, जल और अन्न देते हैं जिसके अभाव में मनुष्य की सारि उन्नति एवं विकास यात्रा अधूरी है।

Cultivation and management of monopodial bamboo in India

R.K. Taj

State Forest Research Institute, Itanagar, Arunachal Pradesh

Monopodial bamboo refers to bamboo species having single underground rhizome system modified into runners having numerous roots, which multiply through it.



Though commercial cultivation of monopodial bamboo like *Phyllostachys pubescens* has started lately in India, its vigorous and luxuriant growth at several locations on trial indicates that India can be the second highest monopodial bamboo growing country in another 15-20 years which will boost up bamboo-based rural industrial economy in India. India which is also known for rich diversity of bamboo resources has recently gained importance after launching of National Bamboo Mission by the GOI.

Distribution

Most of the cultivated monopodial bamboos are believed to have originated from China, Korea and Japan. In India, monopodial bamboo is sparsely distributed both in wild

and cultivated form at very few pockets particularly in North-eastern part of India and was recently introduced in Himachal Pradesh. The species is mostly found in cool moist subtropical to temperate forest in between 700-2000m having sufficient rainfall with slightly acidic soil (pH 5-7). More than 95% of all the monopodial bamboo species and genera are naturally distributed in China and occupy an area of more than 4 million ha, which is about 80% of the total bamboo area.



Importance

It has a very high degree of economic importance due to its straightness, durability, excellent shoot and easy cultivation/management practices. Most of the bamboo based industries in the world prefer monopodial bamboo for its varied value added products. Most parts of India have very conducive agro-climatic condition for its commercial cultivation.

Propagation and Multiplication

Most of the high altitude bamboos are monopodial and amphipodial in nature. The rhizomes are modified into runners from the roots with all the nodes producing well separated culms. The propagation time for these bamboos differs from other low altitude sympodial bamboos. The period of shoot bud initiation and planting time differs from sympodial bamboo. Propagation through culm cutting, branch cutting, layering, etc. is not possible in certain groups of bamboo. SFRI, Itanagar has standardized its propagation techniques and the best method employed for such bamboos is runners/ rhizome cutting using some rooting hormones like, NAA, IBA and rootex-3.

Selection of Rhizome/Runners: The runners

and rhizomes of 1-2 years old, having viable buds are selected and excavated very carefully without injury using spade/khurpi/knife. The selected runners are then cut with sharp secature/knife keeping 3-4 internodes and are taken to prepared nursery bed of 10m x 1.5m. The rhizomes with medium size, healthy culm and roots should be selected.

Application of growth regulators: Rooting hormones like IBA, NAA @ 200ppm are applied, or dipped in rootex-3 at base of cut end or at each internode, and buried in the nursery bed with a furrow depth of 2-3cm and covered with top soil. For long distance transportation, runners are wrapped with polythene bags/wax/clay soil at both ends to avoid moisture dessication.



Rooting: The propagules start sprouting and produce shoot after 1-2 months and root after 2-3 months, if propagated from late December and before February. The well rooted plants are taken out from the nursery bed and each node with sufficient rooted plants are separated and planted in the polybags. The polybags are kept under overhead protected bed/green house and irrigated regularly.



Planting: After 4-6 months, seedlings are ready to be transferred to the planting site. The best time for this method is during dormant period, mostly in the month of January-February. The recommended distance for planting is 4-5m. If it is rhizome planting, a pit size of 60-90 sq.cm is required which has to be dug 1-2 weeks before planting. De-topping at 2-3m from rhizome level is required. Examples of such bamboo spp. are *Phyllostachys manii* (Tabiu/Bije), *Phyllostachys pubesens* (Chinese moso), etc.



Management

The commercial cultivation of monopodial bamboo is easier as compared to sympodial bamboo because of its easy handling, owing to its monopodial nature *per se*. Intensive management like intercultural operation, hoeing, weeding, harvesting, etc. is also comparatively more convenient and less expensive. The Apatanis in Lower Subansiri District of Arunachal Pradesh have traditionally cultivated monopodial bamboo with sustained productivity for the last many decades which is similar to Chinese system of cultivation.

Fencing: *Phyllostachys* bamboo shoots are very tasty and can be consumed uncooked. Therefore humans also pose a threat to the field. Fencing is made both for cattle and human. In traditional system, entry into a bamboo garden during shooting period is strictly prohibited; bio-fencing using bamboo with its top branching portions is done.



Mulching & nutrient management: No chemical fertilizer / pesticide is recommended in its cultivation management. It is managed purely on organics and paddy husk is used as the main component. Mulching with paddy

husk is done to enhance better shoot and culm productivity in monopodial bamboo.

Pest and Disease Management: No serious pest or disease has been observed so far, except one edible fungal attack during full maturity period which is locally known as Buie / Tabiu aie / Sebi pona. It is a delicious fungus eaten by Nyishi, Apatani and Adi tribes of Arunachal Pradesh.

Spreading nature: The most peculiar characteristic in monopodial bamboo is its quick spreading nature through runners leading to heavy encroachment of the area. The spreading can be checked only through tunnel / drainage cutting wherever boundary demarcation is necessary.



Harvest

Harvesting is generally of two types.

Shoot Harvesting: Most of the monopodial bamboo start producing shoots from the month of February and continue up to April. Shoots are harvested when they attain a height of 1m from ground level to get optimum usable volume. Late harvesting may give lesser amount of edible portion. The harvesting should be done by random picking method.



Culm Harvesting: Harvesting of culm must be done when it is fully matured from third year. There are no scientific indices in culm maturity; however its maturity is recognized from colour changes by the villagers/cultivators. The culm harvesting time should not coincide with shoot formation period and it should be preferably during the month of October-November. Random picking method is employed in culm harvesting.



Fungus: The fungus is harvested preferably during the dry period. During rainy season it becomes soft, globuse and tasteless. It can be consumed both raw as well as cooked.



साल बोरर (होप्लोसिराम्बिक्स स्पाईनिकॉर्निस)

vkulln dękj nkl] fuftru dęyd.khZ , oa , u-jkW pkŸkj h

वन कीट प्रभाग, उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर

साल वृक्ष हमारे भारत वर्ष में पारिस्थितिकीय एवं आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण वृक्ष है। भारत में साल वन लगभग 105790 वर्ग कि०मी० क्षेत्र में फैला हुआ है, जिसमें 24408.45 वर्ग कि०मी० क्षेत्र मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ में है। यह पूरे देश के साल वन क्षेत्र का लगभग 25 प्रतिशत है। उत्तरप्रदेश, उत्तराखण्ड, मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ के साल वनों में वृक्ष की सभी अवस्थाओं में नुकसान पहुंचाने वाले अन्य कीटों के अलावा तना छेदक कीट का अत्याधिक प्रकोप पाया जाता है, जो वृक्ष को बहुत ज्यादा नुकसान पहुंचाते हैं। यह कीट साल के तने को भेदकर उसे खाता है तथा अंदर में सुरंग बनाकर रहता है। इस कीट का नाम साल छेदक कीट ;साल बोरर (होप्लोसिराम्बिक्स स्पाईनिकॉर्निस) है। सामान्यतः यह साल बोरर के नाम से प्रचलित है। जो कि ज्ञात इतिहास के अनुसार 18–20 वर्ष के अंतराल में पुनर्लक्षित होता है। यह कीट साल के तने को भेद कर उसे खाता है तथा अंदर में सुरंग बनाकर रहता है।

इस कीट के प्रकोप को देखते हुए साल वनों में कार्य कर रहे वन अमलों को इस कीट के बारे में विस्तृत जानकारी दिया जाना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे फील्ड में कार्यरत वन अमलों को तुरंत सही जानकारी प्राप्त हो सके। इस कीट के प्रकोप की अवस्था में सर्वप्रथम कीट की पहचान इससे ग्रसित वृक्षों के लक्षणों के आधार पर होती है।

I ky Nnd ds ckjs ea tkudkj h

साल छेदक कीट गहरे भूरे रंग का लम्बी एन्टीना (मूँछों) वाला बीटल (एक विशेष कीट समूह) होता है, इसकी लम्बाई 3 से०मी० से 7 से०मी० तक

होती है। इसके दो कांटेदार एन्टीना होते हैं, जो कि इसके शरीर की लम्बाई से भी ज्यादा हो सकते हैं। यह कोलियोप्टेरा गण के सिराम्बिसिडी कुल के अन्तर्गत आता है इसका वैज्ञानिक नाम होप्लोसिराम्बिक्स स्पाईनिकॉर्निस है। इसका जीवन चक्र एक वर्ष का होता है, जिसमें इनकी चार अवस्थाएँ होती हैं : अण्डा, इल्ली (लार्वा), प्यूपा एवं वयस्क।

I ky ckj j dk thou pd

o;Ld & साल बोरर के वयस्क कीट साल बोरर से संक्रमित वृक्षों से जून की पहली बारीस से जुलाई के अंत तक बाहर निकलते रहते हैं, वयस्क कीट काले या रक्तिम भूरे रंग के होते हैं, जिसकी लम्बाई 3–7 से.मी. होती है। यह बाहर निकलने के तुरंत बात ही जोड़े बना लेते हैं। मादा वयस्क निषेचन क्रिया के 7–9 दिनों में अण्डे देते हैं। मादा वयस्क अपने अण्डे वर्तमान में गिरे हुए वृक्षों में अथवा जीवित खड़े वृक्षों के तनों अथवा शाखाओं के छाल में अपने अण्डे देती है। मादा वयस्क अपने जीवन काल में 100–300 अण्डे तक देती है।

v.Ms & यह चावल के दानों के समान सफेद रंग के होते हैं। अण्डों में से 3–7 दिनों में 80–90 प्रतिशत इल्लीयां निकल जाती है।

bYyh& अण्डों से इल्लीयां निकालने के तुरन्त बाद ही बार्क के अन्दर प्रवेश करती है तथा सबसे पहले रसदार लकड़ी (Sapwood) को खाती है, धीरे-धीरे इल्ली रसदार लकड़ी (Sapwood) से मजबुत लकड़ी (hardwood) में प्रवेश कर उसे खाती है। इल्लीयां द्वारा किये गये बोर का अनुमान हम वृक्षों के निचे गिरे हुए बुरादे से लगाया जाता है। यह इल्ली अवस्था 294–307 दिनों तक रहता है।

लकड़ी के प्यूपा बनने से पहले इल्लीयां क्षितिज के समांतर दिशा रसदार लकड़ी (Sapwood) में सुरंग बनाकर प्यूपल चेम्बर का निर्माण कर प्यूपेशन में चली जाती है। प्यूपेशन का समय 39-52 दिनों का होता है। अविकसित वयस्क अवस्था मई माह तक रहती है। जून माह में अवयस्क पूर्ण रूप से वयस्क में परिवर्तित

हो जाता है, तथा जून माह में चीं-चीं की जोर से आवाज निकालने लगता है एवं पहली बारीस के साथ वयस्क बाहर निकलकर जोड़ी बनाते हैं। वयस्क कीटों में मादा कीट की आयु 38 दिन तथा नर कीट की आयु 9 दिन मानी जाती है।

Lkky ckj j dk thou pdz

o{k ds ckj

o{k ds vlnj



v. Ms 13&8 fnu½

bYyh 14xc½ 1294&307 fnu½



uj , oa eknk o; Ld 10&14 fnu½

l; i k 139&52 fnu½

Food from the forest: Edible Fruits

Sanjay Singh, Dr. P.K. Khatri and Chandrashekhar Dixit

Biodiversity Division, Tropical Forest Research Institute, Jabalpur

Fruits are source of food not only to humans but also to the birds and animals. Basically it is an adaptation of plants to aid seed dispersal. Fruits of many wild plants are edible. In personal experience also, we always have something or the other in our mouth while working in forest, making our study trips interesting and memorable. However, one has to be cautious as all the fruits are not edible. It also becomes important for a forester to know about all these species; at times this knowledge can come handy when one gets stuck in forest with no provisions.

Ripe fruits of some plants are eaten as such; to name a few *Aegle marmelos* (bael), *Alangium salvifolium* (ankol), *Anthocephalus cadamba* (kadam), *Bridelia montana* (litijhad), *Buchanania augustifolia* (char), *Buchanania lanzan* (achar), *Carissa opaca* (karonda), *Casearia graveolens* (kirich), *Diospyros melanoxylon* (tendu), *Diospyros peregrine* (makad tendu), *Emblica officinalis* (aonla), *Feronia indica* (kaitha), *Ficus glomerata* (gular), *Ficus semicordata* (ader), *Flacourtia indica* (kakkai), *Gardenia gummifera* (kurlu), *Grewia abutiliafolia* (bhaisa-din), *Grewia hirsute* (gudsukri), *Leea macrophylla* (hathphan), *Mangifera indica* (mango), *Manilkara hexandra* (khirni),

Phoenix humilis (tad), *Schleichera oleosa* (kusum), *Spondias pinnata* (amda), *Syzygium cumini* (jamun), *Tamarindus indica* (imli), *Zizyphus mauritiana* (ber), *Zizyphus oenoplia* (makora) and *Zizyphus rugosa* (toran) are commonly found in the forests of central India and are relished by tribal people and other forest dependent community.

However there are fruits which cannot be consumed as such and hence are cooked before consuming. Pulp of the fruits of *Borassus flabellifer* (tad) and *Semecarpus anacardium* (bhelva) are eaten after roasting in central India. Ripe and unripe fruits of *Celastrus paniculata*, *Dillenia pentagyna*, *Moringa oleifera*, *Smilax prolifera*, and pulp of the fruits of *Solanum surattense* are cooked as vegetable or curries. The preparation varies from species to species, as also the method of cooking may vary for different tribes. The preparation is served as side-dish with rice, which is the major staple food.

Many fruits enlisted above are commonly sold in local markets and relished by everyone. Fruits of karonda, jamun, ber, and bel have found their place in urban markets also. Small fruits of gudsukri, makora, bhaisa-din and kakkai are collected and eaten by children. Apart from nutritional value many of them like *Celastrus paniculata* (peng),

Casearia graveolens (kirchi), *Coccinia grandis* (kundru), *Emblia officinalis* (aonla), *Feronia indica* (kaitha), *Aegle marmelos* (bael), *Manilkara hexandra* (khirni), *Schleichera oleosa* (kusum), *Solanum surattense* (mulkasettu), *Spondias pinnata* (amda) and *Syzygium cumini* (jamun) have well-known medicinal properties.

Some of the above mentioned fruit trees like *Mangifera indica* (mango), *Syzygium cumini* (jamun), *Tamarindus indica* (imli), *Carissa opaca* (karonda), and *Emblia officinalis* (aonla) are common in our neighborhood, however majority of them are found exclusively in forests only. Many of

them are not well known in our urban society and thus there were no efforts to introduce these trees in horticulture system or our traditional cultivation system. Availability of market may be one of the reasons but this may not be the only reason, as char, aonla and tamarind have commercial value and are largely harvested from the forests. *Madhuca indica* (mahua) is another important tree of central India; the fleshy petals can be consumed as such. However, the tribal community collects mahua from the forest floor and dries it in the sun, which is used to prepare local liquor.



Zizyphus oenoplia (Makora)



Grewia hirsute (Gudsukri)



Solanum surattense (Mulkasettu)



Tamarindus indica (Imli)

Trees yielding edible fruits are an important traditional source of food for human beings. They provide to our biodiversity bounty, which support a diverse life-form, they are part of our bio-cultural heritage. These trees may be lesser known to the new generations, but people who live around the forest are well acquainted with these trees. Most of them have relished the sweet and sour taste of kusum and ber fruits. Mango tree becomes center point to all the life forms in summer season; one can see groups of macaque, langur, and folks of parakeets hovering during the fruiting season. These important fruiting trees also support the wild life; they cater wild birds, insects, small and large mammals in the forest. They have got an important role in supporting the life system in the forests. It is a good thing that most of them are not commercially harvested from the forests, and this ensures their successful regeneration in the forests. The fruits that are commercially harvested like, aonla and char are gradually declining in the forests due to unsustainable harvesting methods. Usually the branches of fruits are

felled for collection of fruits and sometimes the whole tree is felled. Mature adult trees of mahua and tamarind are very common in the forest but there is very less regeneration. During collection time the collectors set fire under these trees to clean litter; the controlled fire facilitates collection but has a fatal effect on the seedlings.

It is important to devise sustainable harvesting regime for commercially important fruits and regularize their market. This will not only ensure sustainable production but also ensure the well being of the collectors. Attempts should be made to bring these species under agro-forestry regime; this will reduce pressure on the forests. Value added products from these species will help strengthening the forest dependent communities and generate employment opportunities. Tropical Forest Research Institute, Jabalpur has been working in this direction; value added products from mahua and kusum fruits have been prepared. The institute is also working on the genetic improvement of char, with an objective to introduce the species in agro-forestry model.

Know your Biodiversity

Swaran lata

Tropical Forest Research Institute, Jabalpur

Lagerstroemia speciosa



Lagerstroemia speciosa is one of only a few deciduous trees which grow in tropical and subtropical areas of the country. It is widely distributed in most part of Philippines, India and Malaysia and also cultivated within this region and tropical countries. It is also known as *Lagerstroemia flos-reginae* named by Carl Linnaeus in 18th century for his plant lover friend the Swedish merchant Mannus Von Lagerstrom, who died in 1759. Its specific name 'speciosa' indicates the special status of the tree while 'flos-reginae' highlights the flower as "Queen among the flowers".

Commonly it is known as Giant Crape-Myrtle (flowers look as if made from delicate crape paper), Queen's Crape-Myrtle (it is the Queen of the Crape Myrtles, dominating with grand size and larger, crinkled flowers) and Pride of India. A postal stamp is issued by the Indian Postal Department to commemorate

the flower. In Maharashtra it is known as Jarul and Seja and has been named as "**Flower tree of the state of Maharashtra**".

Belonging to family Lythraceae, it is a small to medium-sized deciduous tree growing upto 20m tall, with smooth, flaky bark. This plant is known as "**natural plant insulin**" because it contains several compounds such as corosolic acid, tannins, lagerstroemin which stimulate glucose uptake and have insulin-like activity. Decoction of the plant treats diabetes by lowering blood sugar levels. In Japan and Philippines, tea prepared from the leaves is used to cure hypertension, urinary problems and ulcer. It is useful to lower triglyceride level and helps in weight loss. A decoction of the bark is used against diarrhoea and abdominal pains. A leaf poultice is used to relieve of malarial fever and applied on cracked feet.

In India, it is used in ayurvedic medicines for treatment of diabetes without any side effect. Besides medicinal importance this tree is used for afforestation because of several properties like fire resistance, controls soil erosion, air pollution, poor drainage, drought tolerance, resistant to termites etc. It is cultivated for ornamental purposes and as a roadside avenue tree. Wood is used for railroad ties and construction.

Ratufa indica



Ratufa indica is a large solitary, territorial, diurnal, herbivorous and arboreal squirrel endemic to India. It is commonly known as the **Indian giant squirrel**. This species is widely distributed in peninsular India from the evergreen to moist and dry deciduous forests of Western and Eastern Ghats and Central Indian Hills. It is seen at an altitude of 180-2300 m. It is known as 'Shekru' in Marathi and is the **state animal of Maharashtra**.

Belonging to family Sciuridae and order Rodentia, it has a conspicuous two-toned color scheme. The underparts and the front legs are usually cream colored; the head can be brown or pale brown, with distinctive white spot between the ears. It has short round ears, broadened hand with expanded inner paw for gripping and large powerful claws used for gripping branches. The mating season of Indian giant squirrel is in the month of October-November.

It is a top canopy dweller, which occasionally comes to the ground. It is a shy, wary animal mostly active in the early hours of the morning and in the evening, resting in the midday. Birds of prey and Leopard are the main predators of Indian giant Squirrel. When in danger, it often freezes or flattens itself against the tree trunk, instead of fleeing. The species mostly feeds on seeds, leaves, flowers and bark from trees. It constructs globular nests with leaves and twigs placing them on thinner branches where large predators can't reach.

Bhimashankar wildlife sanctuary was created in 1984 in Pune district of Maharashtra mainly to protect the habitat of the Indian giant squirrel. Although *Ratufa indica* is listed as Least Concern in Red List of IUCN and Schedule II of the Wildlife Protection Act (1972) of India, its population is continuously declining due to loss of habitat and hunting for local consumption. Habitat degradation is mainly due to expansion of agro-industry based large-scale and small-scale plantation, monoculture plantation, clear felling, selective logging, construction of dam, which are major threats for this species. Status report of the Indian giant squirrel speculates a decline of 20–30% of population and decline still continues. Hence there is urgent need of conservation for maintaining stable population of the Indian giant squirrel.



O' summer sweet...

*Hear a song
Of spring blossom
In the summer tide
By the sun abide...*

*There, by the spring,
Around a mountain-top
Its' echoes surround
A charming tune...*

*From wakeful rest
The sunbirds tweet
Amidst cheery buds
That wait to be probed...*

*From such of joys
To part from you
Would be death
O' summer sweet...*

- Nameless